प्रवचन नं. १६६, गाथा-७७-७८, दिनांक ११-०१-१९७९, गुरुवार, पौष शुक्ल १४

७७ गाथा। यहाँ आया है, ज्ञानी स्वयं, नहीं? ज्ञानी उसे कहते हैं, धर्मी उसे कहते हैं कि जो परपदार्थ का कर्ता तो नहीं होता, परन्तु अन्दर में दया, दान, व्रत के परिणाम आवे उसका वह कर्ता नहीं होता। क्योंकि आत्मा ज्ञायक चैतन्य शुद्ध स्वभाव है, उसकी दृष्टि हुई और अनुभव हुआ, वह विकार के परिणाम का कर्ता नहीं होता, चाहे तो वह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव हो शुभ, उन्हें भी वह नहीं करता। क्योंकि वस्तुस्वभाव जो आत्मा ज्ञायक त्रिकाल जो शुद्ध चैतन्यघन, ऐसी जिसे अन्तर में दृष्टि हुई है और उसका ज्ञान वर्तमान पर्याय में उसे पूर्ण वस्तु का ज्ञान हुआ है, इसलिए वह ज्ञानी, यह ज्ञानी शब्द की व्याख्या की है। आहाहा!

ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में... अर्थात् क्या कहा? जो कुछ शुभ-अशुभभाव हों, वह सब बाह्यस्थित है; अन्तर की चीज़ नहीं। आहाहा! ऐसी बात कठोर पड़े, परन्तु क्या हो? धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम—चाहे तो वह विकल्प दया, दान का हो, भक्ति का, पूजा का, व्रत का, भगवान के वन्दन का, स्तुति का, वह भाव राग है, वह बाह्यस्थित है; वह स्वरूप के द्रव्य-गुण-पर्याय में नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू!

बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम, यह पुण्य के परिणाम भी परद्रव्य के परिणाम, पाठ है न? 'परद्रव्य पर्यायों न' आहाहा! **उन परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर...** ज्ञायकस्वरूप स्वयं अन्तर में प्रवेश कर, पसरकर **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर...** यह शुभभाव है, उन्हें भी आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, ज्ञानी **ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात भगवान! बाह्य की शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, वह तो कहीं बाहर रह गये, वे तो बाह्यस्थित तो इसके (आत्मा के) द्रव्य-गुण-पर्याय में (भी नहीं है), उन्हें तो धर्मी छूता भी नहीं, करता भी नहीं। आहाहा!

धर्मी उसे कहते हैं, जिसे जन्म-मरण का अन्त आया है। जिसने भगवान आत्मा के पूर्णानन्द स्वरूप को वर्तमान ज्ञान की पर्याय द्वारा जान लिया है। आहाहा! जिसने वर्तमान ज्ञान की दशा को त्रिकाली की ओर झुकाकर जिसने उसका ज्ञान किया है, ऐसा ज्ञानी, आहाहा! ऐसा जो धर्मी,... कोई कहता है कि ज्ञानी और धर्मी अलग चीज़ है, (तो)

ऐसा नहीं है। यह धर्मी जीव स्वयं बाह्यस्थिति ऐसे परद्रव्य के परिणाम में, आहाहा!

मुमुक्षु : विकार को परद्रव्य का परिणाम कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकार परद्रव्य के परिणाम।

यहाँ दृष्टि का विषय यह है और ज्ञान हुआ है और उसकी अभी बात है न। उस ज्ञान से है बात, परन्तु वह दृष्टि की प्रधानता से बात है। ज्ञान की पर्याय से वर्णन में आवे, तब ऐसा कहा जाता है कि राग जो हुआ है, वह उसकी पर्याय में परिणमा है, हुआ है। यह ज्ञान का विषय जब सम्यग्ज्ञान का, दृष्टि के विषय के साथ हुआ ज्ञान, उस ज्ञान से जानने में आवे तब ऐसा कहलाये, कि जो कुछ दया-दान के परिणाम हुए। व्रत, भक्ति वे पर्याय में हुए; इसलिए वह परिणमन इसका है। उसका कर्ता है, ऐसा ज्ञान कराया। परन्तु यहाँ तो दृष्टिप्रधान के अधिकार में द्रव्यस्वभाव जिसकी दृष्टि में है, आहाहा! अरे! बात बहुत कठिन, बापू! यह द्रव्यस्वभाव जो ज्ञायक परमानन्द प्रभु, उसका जिसे अन्तर में ज्ञान स्वसन्मुख होकर हुआ है, उसे सब ओर से विमुखता, पर से विमुखता है। शरीर, वाणी, मन से, क्रिया से तो विमुख है, परन्तु अन्दर में पाप के और पुण्य के परिणाम हों, उससे भी वह विमुख है। ऐसी बात है, प्रभु! कठिन लगे ऐसी है, बापू! क्या हो?

अरे! इसने अनन्त-अनन्त काल में चौरासी के अवतार किये। अनन्त इसने स्वर्ग के, नरक के, तिर्यंच के, अनन्त-अनन्त भव में यह दुःखी होकर भटकता है, वह भले सेठिया अरबोंपति हो और बड़ा राजा हो या देव हो परन्तु वे सब दुःखी हैं, क्योंकि उन्हें राग की एकता के मिथ्यात्वभाव में उसे मिथ्यात्व का दुःख है। आहाहा!

मुमुक्षु : लौकिक में तो पैसा मिले, उसे सुख कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ पैसे में हो तो भी पैसे में (नहीं) और न हो तो भी पैसे में नहीं, उसे कहाँ पैसे थे आत्मा में? प्रेमचन्दभाई! आहाहा!

भगवान! बातें बापू! तीन लोक का नाथ जिनेश्वरदेव भगवान ऐसा फरमाते हैं कि पैसे को लाना, रखना और प्रयोग करना, वह तो आत्मा में है ही नहीं।

मुमुक्षु : किसी अपेक्षा से नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी अपेक्षा से नहीं।

मुमुक्षु : व्यवहार से तो कहलाये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार बोलता है, वह तो कथनमात्र है। वह बोले, इसलिए क्या ? गाँव मेरा, ऐसा हो गया ? राजकोट किसका गाँव ? कि मेरा। तो हो गया इसका ? यह तो कथनमात्र है। ऐसा कहने में आवे कि इसके पैसे और इसने पैसे खर्च किये, वह तो कथनमात्र है। कुछ इसके हैं नहीं। आहाहा! उसकी बात तो यहाँ है ही नहीं। क्योंकि वह तो भिन्न चीज़, भिन्न चीज़ है। यह उसका टिकना और बदलना तो उसमें उसके कारण से है।

अब आत्मा में भी जो रागादि हों, उन्हें भी द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से, जो स्वभाव का ज्ञान हुआ, इससे स्वभाव की दृष्टि की प्रधानता से यह कथन है। उसे यह रागादि हों, वे बाह्यस्थित हैं। ज्ञान की दृष्टि से देखे तो उसकी पर्याय में है, ऐसा ज्ञान जानता है परन्तु सम्यग्दर्शन है, वह निर्विकल्प है। और इसलिए उसका विषय निर्विकल्प वस्तु है, उसमें भेद का विषय उसमें नहीं आता, पर्याय का भेद का विषय नहीं आता तो राग तो उसमें आवे कहाँ से ? ऐसा है। अरे! क्या हो ? अनन्त काल से भटकता है, 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।' आहाहा! क्या सन्त कहते हैं, परमात्मा की वाणी में, इसने सुना नहीं, जँचा नहीं, रुचा नहीं, सुहाया नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अज्ञानी राग होता है, उसका कर्ता होता है, क्योंकि उसे स्वभाव की दृष्टि का स्वामीपना नहीं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, उसे स्वभाव जो अखण्ड आनन्द प्रभु, उसका उसे स्वामीपना नहीं, धनीपना नहीं उसे (उसरूप) जाना नहीं, इसलिए वह अज्ञानी तो राग, दया, दान आदि के राग का कर्ता होकर मैं करता हूँ, ऐसे मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा!

यहाँ धर्मी जीव, **स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर...** यह परद्रव्य के परिणाम कहा। आहाहा! भगवान आत्मा के परिणाम तो जानना, देखना, आनन्द वह उसके परिणाम। रागादि परिणाम है, वे परद्रव्य के। यहाँ दृष्टि के ध्येय की निर्विकल्प दृष्टि का विषय निर्विकल्प है, उसकी अपेक्षा से कथन है। समझ में आया ? आहाहा! सूक्ष्म पड़े, भाई! यह तो शान्ति से समझनेयोग्य है, भाई! इसने अनन्त काल बिताया भटकने में, शास्त्र का जानपना भी अनन्त बार किया है। आहाहा! वह कोई जानपना, वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो आत्मा, प्रभु पूर्णानन्द का नाथ भगवान, उसे जिसने ज्ञान में ग्रहण किया है,

पकड़ा है, ऐसा जो धर्मी जीव, उसे बाह्य रागादि के परिणाम भगवान के विनय के, पंच परमेष्ठी के स्मरण के, उनकी भक्ति के भाव आवे, वे बाह्यस्थित हैं। अन्दर वस्तु जो भगवान अन्तर आत्मा में वे नहीं हैं। **ऐसे अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर...** इस राग की शुरुआत में राग हुआ, उसमें आदि में तो आत्मा था—ऐसा नहीं। आहाहा! कठिन काम, भाई! धर्म कोई अलौकिक चीज़ है। अरे! अभी तो सब गड़बड़ ऐसी हो गयी है कि चोर कोतवाल को दण्डे, ऐसा है। आहाहा! ऐसा हो, क्या हो। बापू!

भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की यह वाणी है, उसे सन्त आड़तिया होकर जगत को फरमाते हैं। आहाहा! दिगम्बर सन्त हैं। कहते हैं कि पुण्य परिणाम जो हो—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के, और अशुभ, उसकी आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर आत्मा **उसे ग्रहण नहीं करता....** प्राप्य। राग के भाव को धर्मी ग्रहण नहीं करता। शुरुआत में-आदि में यह राग मेरा है, ऐसा नहीं। मध्य में राग मेरा है, ऐसा नहीं और अन्त में राग मेरा है, उसमें ऐसा भी नहीं, आहाहा! ऐसी बातें! अब जँचना कठिन पड़े, भाई! क्या हो? दुनिया को तो जानते हैं न? दुनिया नहीं जानते? आहाहा! उसे ग्रहण नहीं करता, यह प्राप्य। यह राग हो-विकल्प उठे, उसे ज्ञानी ग्रहण नहीं करता अर्थात् प्राप्य, उस समय वे परिणाम निश्चय से पुद्गल के परिणाम हैं, ऐसा निश्चय से वह है। वे मेरे परिणाम नहीं। उसे वह ज्ञानी ग्रहण नहीं करता। आहाहा! ऐसा कठिन पड़े, भाई! क्या हो?

उसरूप परिणमित नहीं होता। विकार्य। रागरूप—व्यवहाररत्नत्रय के रागरूप भी ज्ञानी परिणमित नहीं होता। विकार्य अर्थात् फेरफार करके होना, परिणमित नहीं होता। **और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।** आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का जो शुभराग देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम और शास्त्र का भी विकल्पात्मक ज्ञान, आहाहा! उसे वह ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता, उसरूप उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म है, प्रभु! पूरी दुनिया की तो खबर है न। आहाहा! आहाहा!

यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है। देखा! अर्थात् कि उन्हें करता नहीं, वहाँ यह जानने का काम तो करता है। अपने ज्ञान परिणाम को जानने का तो करता है, तो साथ में राग को करे इसमें क्या बाधा? नहीं, नहीं। वह राग को नहीं करता। राग का यहाँ ज्ञान हो, वह अपना ज्ञान है, उसे जानता है। वह जानने का कार्य इसका है। आहाहा! ऐसा उपदेश किस प्रकार का है! कोई अता-पता हाथ आता नहीं। ऐसी बात है, भाई! परम धर्म

सत्य की चीज़ कोई अलौकिक है। पहले इसे सुनना मिलना मुश्किल है, सुनने को मिले तो भी अन्दर वापस विचार में यह बात बैठनी भी कठिन है। विचार में बैठने के बाद इसकी दृष्टि होना और परिणमन होना, वह तो महाकठिन। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! क्या कहें?

यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है। देखा? अपने परिणाम को जानता है। राग जो हुआ, उसका यहाँ ज्ञान हुआ, वे ज्ञान के परिणाम अपने हैं। उन ज्ञान के परिणाम को ज्ञानी परिणाम को जानता है। ज्ञानी ज्ञानस्वरूप को-त्रिकाली को तो जानता है, परन्तु उसके परिणाम को भी वह जानता है, जानने-देखने के जो परिणाम शुद्ध हैं, उन्हें वह जानता है। वह जानता है, वैसा कर्ताकर्मपना है। जानता है, वह कार्य है और कर्ता स्वयं आत्मा, ऐसा कर्ताकर्मपना है। तथापि वह इस कर्ताकर्मपने के साथ राग का भी कर्ता और कार्य है, यह आत्मा में नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : कठिन तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन है, भाई! खबर है न, बापू! ८९ वर्ष तो देह को हुए, जड़ को। ७० वर्ष से तो इस जगत को जानते हैं। जगत की कितनी लीला और कितनी विचित्रता और विविधता और विपरीतता। बहुत कठिन काम, बापू!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! जो कुछ अपने परिणाम को जाने, तो भी ऐसा कार्य होने पर भी, कर्ता-कार्यपना है, ऐसा कहते हैं, **तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य परिणाम...** आहाहा! यह राग का भाव, वह परद्रव्य परिणाम है। **उसे नहीं करते हुए ऐसे उस ज्ञानी को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।** समझ में आया? आहाहा!

भावार्थ :- जैसा ७६वीं गाथा में कहा था, तद्नुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गल कर्म को जानता हुआ ज्ञानी', ऐसा कहा था,... पुद्गलकर्म को जानता हुआ, उसके कर्ता का कर्म नहीं है। 'यहाँ अपने परिणाम को जानता हुआ ज्ञानी' (ऐसा कहा है) इतना अन्तर है। आहाहा!

वहाँ राग को जानता ज्ञानी राग का कार्य नहीं, वैसे यहाँ अपने परिणाम को जानता हुआ, राग का कार्य उसका नहीं। समझ में आया? भाई! एक-एक शब्द में एक-एक भाव में बड़ा अन्तर है, बापू। आहाहा!

गाथा–७८

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गल–कम्मप्फल–मणंतं।।७८।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गल–कर्म–फल–मनन्तम्।।७८।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तद् गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च।

ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्म–भावः।।७८।।

अब प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले ऐसे जीव को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:–

पुद्गलकरम का फल अनन्ता, ज्ञानि जन जाना करे,
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७८।।

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [पुद्गलकर्मफलम्] पुद्गलकर्म का फल [अनन्तम्] जो कि अनन्त है, उसे [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] परमार्थ से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य की पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

टीका : प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलस्वरूप जो कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफल को करता है; इस प्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जानेवाले सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफल को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसी प्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; इसलिए, यद्यपि ज्ञानी सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्म के फल को जानता है, तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानी को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ : जैसा कि ७६ वीं गाथा में कहा गया था, तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गलकर्म को जाननेवाला ज्ञानी' कहा था और यहाँ उसके बदले में 'पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाला ज्ञानी' ऐसा कहा है-इतना विशेष है।।७८।।

गाथा - ७८ पर प्रवचन

अब ७८, ७७ हुई। **अब प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले...** क्या कहा, यह कहते हैं कि आत्मा में जो कुछ हर्ष और शोक, सुख और दुःख की कल्पना होती है, ऐसा जो पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाला, उस सुख-दुःख की कल्पना को ज्ञानी जानता है। सुख-दुःख की कल्पना, वह निश्चय से पुद्गल का फल और पुद्गल का कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी छनावट तो आप करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है, भाई! दुनिया तो, दुनिया को जानते नहीं? दुकान

का धन्धा था, तब भी दुनिया को बहुत जानता था। मैं तो तब निवृत्ति से पढ़ता था। दुकान पर भी यह शास्त्र तब पढ़ता था। १७-१८ वर्ष की उम्र, ७० वर्ष पहले। यहाँ तो घर की-पिताजी की दुकान थी। वह पाँच वर्ष चलायी थी तो भी मैं तो अन्दर शास्त्र पढ़ता न, ओहो! अरे! मार्ग कोई अलग है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, पुद्गलकर्म के फल को, अर्थात् कि जो कल्पना हो कि इस पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, खाने-पीने में, मैसूर खाने में सुख है, ऐसी कल्पना होती है, वह पुद्गलकर्म का फल है, वह आत्मा का फल नहीं। आहाहा! और इसे बुखार आने पर, निर्धनता होने पर, जो द्वेष के परिणाम होते हैं, वे भी द्वेष के परिणाम वह पुद्गल के कर्म का फल है, वह आत्मा का फल नहीं है। आहाहा!

पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले... यह सुख **ऐसे जीव को पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव... है या नहीं ?** क्यों यह प्रश्न उठा? कि यह पुद्गलकर्म का फल जो सुख-दुःख की कल्पना, उसे जानता तो है, इतना जानना तो होता है या नहीं? तो जानने का कार्य तो स्वयं करता है, यह हर्ष-शोक के परिणाम को जाने, वह जानने का कार्य तो करता है, तो फिर कर्मफल है, वह उसका कार्य है या नहीं? आहाहा! समझ में आया?

भाई! बापू!! मार्ग अलग, भाई! अरे रे! इसे मिले नहीं और जिन्दगी हैरान होकर चला जाये, पशु में अवतरित हो, बहुत से तो पशु में... आहाहा! कल देखो न, कुछ बात हुई न यहाँ, दो मर गये। यहाँ एक किसान के दो भाई। क्या कहलाता है वह तुम्हारा।

मुमुक्षु : मोटर साइकिल।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटर साइकिल। जोर में आते थे, वहाँ ऐसे, वह यहाँ से बस ऐसे निकली, और वे बल में (तेजी से) आये, गुजर गये। एक तो तुरन्त वहाँ मर गया। कल सवेरे या शाम को कब, खबर नहीं, दूसरा मरने की तैयारी है। वह पर्याय उस काल में उस प्रकार से होनेवाली है, उसमें फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ध्यान रखे तो न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्यान रखे, किस प्रकार ध्यान? पर की क्रिया जो होनेवाली है, उसमें ध्यान रखे तो हो और न हो, ऐसा है ही नहीं। ऐसी बातें हैं। आहा! जिस समय में

जो शरीर की पर्याय जिस प्रकार से होनेवाली है, वह उसका समय निजक्षण है, उसे कोई दूसरा बदला सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं है।

यहाँ तो यह बात तो कहीं रह गयी, शरीर की अवस्था को मैं रखूँ, यह तो प्रश्न है ही नहीं। यहाँ तो जो कर्म के फलरूप से आत्मा के आनन्द का फल आनेवाले को, वह कर्म के फलरूप से सुख-दुःख और हर्ष-शोक की कल्पना हुई, उस कल्पना को धर्मी जानता है, तब जानने का सम्बन्ध इतना तो कामकाज करता है या नहीं? तो जानने के कार्य में वह हर्ष-शोक का फल है, उसका कार्य है या नहीं? आहाहा! वहाँ पुद्गलकर्म को जानता हुआ ज्ञानी, ऐसा यहाँ **जाननेवाले ऐसे जीव को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मपना है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं।**

जिसे अन्दर से ऐसा प्रश्न उठा है, आहाहा! कि भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी के आनन्द के स्वरूप का ज्ञान हुआ, उस क्षण में जो उसे जो कुछ हर्ष-शोक की कल्पना होती है, उसे वह जानता है, क्योंकि जीव का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए पर को जानता है, तो इतना सम्बन्ध है, तो वह सुख-दुःख की कल्पना का कार्य जीव का है या नहीं? वह जीव उसे भोगता है या नहीं? आहाहा! जीव उस हर्ष-शोक के परिणाम को भोगता है तो फिर (ज्ञानी) हर्ष-शोक के परिणाम को भोगता है या नहीं? ऐसा है, भगवान! क्या करे? आहाहा! यह प्रश्न उत्तर, उत्तर है। ऐसा जो पूछे उसका उत्तर है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गल-कम्मप्फल-मणंतं।।७८।।

नीचे हरिगीत -

पुद्गलकरम का फल अनन्ता, ज्ञानि जन जाना करे,
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७८।।

अनन्त फल लिया। देखो? सुख-दुःख की कल्पना में अनन्त शक्ति है। इसकी टीका:—**प्राप्य...** अर्थात्? सुख-दुःख की कल्पना के परिणाम तो उस समय में होनेवाले थे, वे हुए, उन्हें पुद्गल ने ग्रहण किया, परन्तु आत्मा उन्हें प्राप्त नहीं करता। आहाहा! ऐसी बातें अब इसमें। वे तो बातें दया पालो, व्रत करो, सेवा करो, गौशाला करो, लाख-दो लाख

दो, पाँच लाख, दस-दस लाख गृहस्थ व्यक्ति दे, पचास-पचास लाख दे, उसमें क्या हुआ ? उसमें वह धर्म कहाँ था ? उसमें राग की मन्दता हो, उसका भी कार्य जीव का नहीं है। धर्मी का वह कार्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

प्राप्य... अर्थात् कि जो सुख-दुःख के परिणाम होने का काल है, वह पुद्गल का व्याप्य हुआ है। पुद्गल व्यापक है और सुख-दुःख की कल्पना का व्याप्य प्राप्य, वह उसे पहुँचना पुद्गल, वह प्राप्य। **विकार्य...** वह पुद्गलकर्म ही पूर्व के परिणाम को बदलकर सुख-दुःख के परिणाम हुए, वह पुद्गल का कार्य। **निर्वर्त्य...** उस पुद्गल से सुख-दुःख के परिणाम निपजे हैं, उपजे हैं, आहाहा!

मुमुक्षु : पूरी दुनिया कहती है जीव से होते हैं और आप कहते हो पुद्गल से।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जीव से, पर्याय से देखने पर यहाँ उससे होते हैं, परन्तु यहाँ तो द्रव्यदृष्टि से देखने की बात है न ? वह तो आगे कहेंगे। पर्याय से तो इसमें राग है, यह करे और होती है सुख-दुःख की कल्पना। परन्तु यहाँ स्वभाव की दृष्टि, द्रव्यदृष्टि का विषय बतलाना है। तो दृष्टि है, वह निर्विकल्प है, और उसका विषय ध्रुव, वह निर्विकल्प है; इसलिए उसके कार्यरूप से सुख-दुःख की कल्पना उसका कार्य नहीं होता। यह अपेक्षा है, बापू! समझ में आये उतना समझना भाई! यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर तीर्थंकर का यह हुकम है। यह पामर को नहीं जँचता, इससे वस्तु बदल नहीं जायेगी। आहाहा!

कहते हैं कि **प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य।** होता, पलटता और उपजता। संक्षिप्त भाषा की है। प्राप्य अर्थात् होता; विकार्य अर्थात् पलटता और निर्वर्त्य अर्थात् उपजता। ध्रुव, व्यय और उत्पाद, पर्याय का ध्रुव, हों! उस समय का। यह सुख-दुःख की पर्याय उस समय होनेवाली ही थी, वह पुद्गल का व्याप्य है, आत्मा का नहीं। आहाहा!

ऐसा व्याप्य लक्षणवाला सुख-दुःख आदि... दुःख आदि अर्थात् रति हो, अरति हो, शोक हो, होश हो, हर्ष हो। इन **सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलस्वरूप...** यह पुद्गल के फल का कार्य स्वरूप पुद्गल का है, यह पुद्गल का फल कार्य है। आहाहा! यह कर्ता का कार्य है, पुद्गल कर्ता का यह कार्य है। **उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर (व्याप्त होता है)।** आहाहा!

भगवान तो आनन्दस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जहाँ उसे भान हुआ, उसकी बात है। जिसे धर्म की दृष्टि प्रगटी है, धर्म वह आत्मा आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसका जिसे ज्ञान और धर्मदशा प्रगटी है, उसे वह सुख-दुःख के परिणाम का प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य वह पुद्गल है। उसमें **पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में...** आहाहा! यह सुख-दुःख की कल्पना की आदि में पुद्गल है, इस सुख-दुःख की आदि में आत्मा है, ऐसा यहाँ नहीं है। बराबर गाथायें ऐसी आयी हैं न? भाई लन्दन से आये हैं न, वहाँ लन्दन में यहाँ का वाँचन करते हैं। अफ्रीका में भी वाँचन करते हैं। पच्चीस-तीस वर्ष से यहाँ का साहित्य, पाँच हजार वे (प्रवचन रिकॉर्डिंग) वहाँ गयी हैं। क्या कहलाता है वह तुम्हारा? रिकॉर्डिंग। समयसार के पाँच हजार रिकोर्डिंग गये हैं। अफ्रीका-नैरोबी, तीस वर्ष से वहाँ चलता है। आहाहा!

भाई! क्या कहें? इसलिए यह कहते हैं कि दुनिया को ठीक न पड़े, इससे कहने में लज्जा आवे, परन्तु वस्तु तो यह है। जिसे निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, उसका विषय निर्विकल्प सामान्य स्वरूप है। उसका विषय परिणाम निर्मल भी उसका विषय नहीं, तो राग है, उसे सुख-दुःख की कल्पना है, वह तो उसका विषय है नहीं। परन्तु विषय द्रव्य को स्वभाव में करने से जो परिणाम जानने-देखने के हों, वह उसका विषय नहीं, परन्तु जानने-देखने के परिणाम का कर्ता स्वयं है, और जानने-देखने के परिणाम उसका कार्य है। समझ में आया?

यह जानने-देखने के परिणाम में आत्मा अन्तर्व्यापक होकर, जहाँ व्याप्य प्राप्य अर्थात् उस समय में वह सुख-दुःख की कल्पना थी, उसका उस समय ज्ञान हुआ, वह स्वयं से वह ज्ञान, उसका व्याप्य, उस ज्ञान का कर्ता होकर व्याप्य-कार्य उसका है, जानना। परन्तु उसे सुख-दुःख की कल्पना वह उसका प्राप्य और कार्य है, ऐसा नहीं। आहाहा! अररर! ऐसा मार्ग! नौतमभाई! सुनायी देता है? सुनायी देता है, ऐसा कहा।

मुमुक्षु : समझ में आता है, अभी आप अधिक समझाओ तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्ति प्रमाण तो होता है। भाषा की शक्ति हो तत्प्रमाण होता है, आहाहा! वह आत्मा कहाँ भाषा करता है? आहाहा!

अरे रे! अनन्त काल से भटका प्रभु! तूने तेरी जाति को जाना नहीं और कुजात है उसका कर्ता हुआ, इसलिए भटक मरा है। यह राग और दया, दान, व्रत के परिणाम वे इसकी जाति में नहीं हैं, कुजाति है, बाह्यस्थित है न? आहाहा! उनका कर्ता होकर मिथ्यात्व से अनन्त संसार में भटक मरा, प्रभु! कहाँ नरक और निगोद। प्रभु तो ऐसा कहते हैं, नरक के एक क्षण के दुःख क्या कहूँ? कहते हैं तुझे। ऐसे ३३ सागर, ऐसे अनन्त बार वे भोगे हैं, भाई! काल-अनन्त काल गया, उसमें नरक में गया है, नारकी नीचे है। एक मनुष्य को मारे तो उसे एक बार फाँसी दे कोर्ट में निश्चित (साबित) हो तो। पैसा-बैसा देकर फिर पुण्य हो और छूट जाये, तथापि कुदरत के कानून में नहीं छूटता, परन्तु इस मनुष्य ने लाख मनुष्य हजार को मारा तो, क्या उसका फल है अभी? राजा क्या दे उसे हजार, हजार बार मारे? बापू! वह हजार बार मारनेवाले को हजार के मारनेवाले को जो परिणाम तीव्र हैं, वे महादुःख के कारण हैं और जितना ऐसा दुःख का कारण है, जहाँ इतना दुःख जहाँ है, वहाँ वह उपजता है, उसे नारकी कहा जाता है। आहाहा! यह परमात्मा तो ऐसा कहते हैं कि उस क्षण के दुःख प्रभु! क्या कहें? उस क्षण के नारकी के दुःख तूने भोगे, उन्हें करोड़ भव और करोड़ जीभ से नहीं कहा जाता। बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा! इस मिथ्यात्व के कारण ऐसे दुःख अनन्त बार सहन किये हैं। यह मिथ्यात्व क्या है, इसकी तुझे खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि राग की दया, दान, व्रत, भक्ति-पुण्य का शुभभाव का कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्व है, महा अनन्त संसार उसमें पड़ा है। मिथ्यात्व में अनन्त भव पड़े हैं, उसके गर्भ में। उसे जिसने तोड़कर आत्मज्ञान किया है, आहाहा! उस ज्ञानी को सुख-दुःख के परिणाम में पुद्गल **स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ...** आहाहा! वह तो पुद्गल का जड़ कर्म है। उसमें वह व्यापक होकर पसरकर, उसका व्याप्य अर्थात् कार्य वह सुख-दुःख की कल्पना, वह पुद्गल का कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : सुख-दुःख अर्थात् साता-असाता प्रकृति?

पूज्य गुरुदेवश्री : साता-असाता का निमित्त है, परन्तु अन्दर सुख-दुःख की कल्पना हो, उसकी यहाँ बात है। संयोग मिले अनुकूल-प्रतिकूल, वह तो जड़ पर (है) उनकी बात नहीं। उसे जो कल्पना होती है कि यह ठीक है, यह मुझे सुख, पैसे के कारण मैं सुखी हूँ, स्त्री के कारण सुखी हूँ, इज्जत के कारण सुखी हूँ, बड़ा पद मिला पचास हजार महीने का अमलदार हुआ, इसलिए सुखी - ऐसी जो कल्पना सुख की है, उसकी यहाँ बात है। आहाहा!

यह सुख-दुःख का जो फल, उस पुद्गलकर्म के फल को पुद्गल करता है। है? वह सुखदुःखादि पुद्गलकर्मफल को, पुद्गल स्वयं आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर करता है। विकृत है न? सुख कल्पित किया-माना है। सुख है नहीं स्त्री में, पैसे में, इज्जत में माना है, है नहीं। वह माना है कि सुख की कल्पना, उसका कर्ता धर्मी नहीं है, ऐसा कहते हैं। अज्ञानी उसका कर्ता है, क्योंकि उसे ज्ञान स्वभाव आत्मा की खबर नहीं है। इसलिए वह हर्ष-शोक का कर्ता होकर उसका फल भोगता है। आहाहा! परन्तु धर्मी जीव, जिसने धर्मस्वभाव भगवान आत्मा, ज्ञायकस्वरूपी प्रभु भगवानस्वरूप आत्मा, आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा, उसका जिसे ज्ञान हुआ और जिसे पहिचान और प्रतीति ज्ञान होकर हुई, उसे वह जो सुख-दुःख की कल्पना अन्दर होती है, वह पुद्गल का कार्य है, परन्तु आत्मा का कार्य नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

यहाँ एक बार बात हुई थी। नानालाल कालीदास करोड़पति है न, राजकोट (वाले), मुम्बई में झवेरी की दुकान। उनके रिश्तेदार आये हुए थे। वे कहे कि हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। मैंने कहा, सुखी की व्याख्या क्या? यहाँ बात हुई थी उस स्वाध्यायमन्दिर में, थानवाला आया, थानवाला नहीं, वढवाणवाला, क्या कहलाता है, वह वकील था न?

मुमुक्षु : चूडगर-चूडगर।

पूज्य गुरुदेवश्री : चूडगर बैरीस्टर था न चूडगर। उनके कुटुम्ब में से था। हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। तो सुखी की व्याख्या क्या है? कहे, यह पैसा और स्त्री यह सुख का है! सुखी तो उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा के आनन्द का भान होकर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है, वह समकिती सुखी है। 'सुखिया जगत में सन्त, दूरिजन दुःखिया।'

सुखिया जगत में रे सन्त दुरिजन दुखिया रे। जिसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु जिसे अनुभव में आया, वह भले गृहस्थाश्रम में, भले चक्रवर्ती पद में हो, परन्तु जो आनन्द का अनुभव आया, वह सुखी है, बाकी दुरिजन दुखिया।

वह **पुद्गलकर्मफल को करता है।** कौन ? पुद्गल। कर्म, कर्म जड़ है, वह उसके फलरूप से सुख-दुःख की कल्पना का कार्य वह कर्म का है, भगवान आत्मा का नहीं। आहाहा! **इस प्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जानेवाले सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्मफल को ज्ञानी जानता हुआ भी...** ऐसा कि जानने का कार्य करता होने पर भी, ऐसा कहना है। धर्मी उस सुख-दुःख की कल्पना को जानता होने पर भी, जानने में उसे ज्ञेयज्ञायक का व्यवहार सम्बन्ध होने पर भी, **जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर...** आहाहा! घड़ा जो होता है, उसमें मिट्टी अन्तर्व्यापक होकर घड़ा हुआ है, कुम्हार से नहीं।

अरे रे! यह कैसे जँचे जगत को ? यह मिट्टी वस्तु है, वह स्वयं पसरकर, घट की पर्याय व्याप्य-प्राप्त होती है। उस काल में वह घट की पर्याय उस काल में होनेवाली थी, उसे वह मिट्टी ग्रहण करती है, प्राप्य है। जैसे, है ? **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में...** आहाहा! उस घड़े की आदि में भी मिट्टी, अन्त में भी मिट्टी और मध्य में भी मिट्टी। शुरुआत में कुम्हार था इसलिए, आदि में वह, ऐसा नहीं है।

अरेरे! अब ऐसी बातें गले उतरना... तत्त्वदृष्टि ऐसी सूक्ष्म है, भाई!

मुमुक्षु : ऐसे तो दृष्टान्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दृष्टान्त यह कहाँ बैठता है इसे ? मिट्टी से घड़ा होता है, उस घड़े की पर्याय को व्यापक मिट्टी होकर होती है। वह कुम्हार है, इसलिए घड़ा होता है, ऐसी बिल्कुल झूठी बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : कुम्हार तो निमित्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त है अर्थात् वह करता नहीं। निमित्त का अर्थ है, कि 'है' इतना। परन्तु वह घड़े को करता नहीं।

रोटी का कहा नहीं था भाई! अभी तो इसे दृष्टान्त कठिन पड़े, सिद्धान्त। **जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर...** वह मिट्टी स्वयं पसरकर, **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त**

होकर, घड़े को ग्रहण करती है... घड़े को ग्रहण करती है, अर्थात् उस काल में घड़े का प्राप्य निश्चय है। उसे मिट्टी ग्रहण करती है, प्राप्य करती है। ग्रहण करती है, ऐसी भाषा है। यह मिट्टी उस घड़े की पर्याय को प्राप्त करती है अर्थात् ग्रहण करती है, कुम्हार नहीं। आहाहा!

भाई ने प्रश्न किया था न? कि यह रोटी होती है रोटी। रोटी होती है, बापू! भाई! तुझे खबर नहीं। वह रोटी की (पर्याय) है-वह रोटी की पर्याय है, वह रोटी उस काल में होनेवाले थी, वह प्राप्य है, उसे वे परमाणु आटे के हैं, वे उसे ग्रहण करते हैं, उनसे वह रोटी हुई है; पर से नहीं। क्या कहलाता है वह? बेलन से नहीं, तवे से नहीं, स्त्री के हाथ से नहीं। अरे रे! जगत से भारी उल्टा।

मुमुक्षु : जगत से तो उल्टा ही होगा न।

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत की दृष्टि उल्टी, उल्टे घड़े में उल्टा रहे। जो घड़ा उल्टा हो, उसके ऊपर उल्टा रहे, सुलटा न रहे; इसी प्रकार दृष्टि उल्टी है और उल्टा चलना और और तर्क और उल्टा ही ज्ञान सब हो। आहाहा!

यहाँ परमात्मा कहते हैं कि इस घड़े के मुख्य में आदि में मिट्टी, मध्य में मिट्टी और अन्त में व्यापकर घड़े को ग्रहण करती है, वह मिट्टी घड़े को पहुँचती है। वह कुम्हार घड़े को पहुँचता है, यह बात बिल्कुल झूठी है। अररर! अब ऐसी बात बैठे नहीं। पूरे दिन सवेरे से शाम तक धन्धे में 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी चलती हो और नीचे कुत्ते को ठीठुं छुए तो गाड़ी मुझसे चलती है (ऐसा वह मानता है)। इसी प्रकार दुकान पर बैठा हो और ऐसे पाँच-दस हजार की आमदनी दिन की होती हो और ग्राहक... ग्राहक... ग्राहक, आहाहा! यह सब काम मुझसे होता है, ऐसा मानता है। प्रभु! तू क्या करे? पर की क्रिया का तू कहाँ कर सकता है? परन्तु 'मैं करूँ, मैं करूँ' नरसिंह मेहता कहते हैं, हों, वैष्णव में। 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी का भार जैसे कुत्ता खींचे, वैसे यह पूरी दुनिया की धन्धे की व्यापार की क्रिया मैं करता हूँ और मुझसे यह हुआ है, मैंने दुकान को सम्हाला, तब यह पैसे पैदा हुए हैं और मेरा ध्यान बराबर था। व्यवस्थित काम करने में मैं होशियार हूँ। ऐई!

हिम्मतभाई! नहीं? लोहे-बोहे में? यह सब पर के काम कर सकता हूँ, यह अज्ञान और मूढता है। आत्मा को पाप की खान में गहरे उतारने के ये सब लक्षण हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **मिट्टी स्वयं घड़े में...** शुरुआत में मिट्टी, मध्य में और अन्त में **घड़े को ग्रहण करती है...** घड़ेरूप **परिणमित होती है।** मिट्टी, घड़ेरूप **उत्पन्न होती है। उसी प्रकार ज्ञानी...** उसी प्रकार धर्मी **स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले ऐसे) पुद्गलद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर।** आहाहा! जैसे मिट्टी अन्तर्व्यापक होकर घड़े को ग्रहण करती है, उपजती है और परिणमित होती है। आहाहा! उसी प्रकार ज्ञानी कर्म का फल सुख-दुःख है, उसके अन्तर में व्यापकर, व्याप्य-पर को ग्रहण करता है, ऐसा नहीं है। है? ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में यह सुख-दुःख की कल्पना, आहाहा! उसमें-पुद्गल में परिणमता परद्रव्य में भी **अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में...** यह सुख-दुःख की कल्पना में शुरुआत में आत्मा था, मध्य में आत्मा और अन्त में वह है नहीं।

श्लोक कैसे ऊँचे आये न? यह **परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर उसे ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! धर्मी, जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर पड़ी है, आहाहा! ऐसा जो धर्मी, उसे जो सुख-दुःख की कल्पना के आदि में, मध्य में, अन्त में पुद्गल है। उसकी आदि में आत्मा है, ऐसा है नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें कहाँ मिले? आहाहा! यहाँ चलती है, अन्यत्र तो विवाद। क्या हो? भाई! जगत को जहाँ बैठे हो, वहाँ से उल्टा कहे दूसरा, तो उसे उल्टा लगे, उल्टा बैठा उसे दूसरा कहे तो वह उल्टा लगता है, कहते हैं, क्या हो? भाई! आहाहा!

उसे आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर ग्रहण नहीं करता... आत्मा। **उसरूप परिणमित नहीं होता।** बदलता नहीं। यह सुख-दुःख के परिणाम पहले थे और दूसरे बदले, ऐसा नहीं। **उसरूप उत्पन्न नहीं होता।** सुख-दुःख में आत्मा ज्ञानी उपजता नहीं। आहाहा! पर्याय में कर्ता है तो वह आत्मा, परन्तु यहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ानी है, द्रव्यदृष्टि के स्वभाव की अपेक्षा से पर्याय में जितना राग और सुख-दुःख की कल्पना करे, वह सब पुद्गल का कार्य करके तुझे ज्ञाता ठहराना है। आहाहा! क्योंकि आत्मा का स्वरूप ज्ञायक

है, तो ज्ञायक अर्थात् जानना-देखना उसका स्वरूप है, कोई राग का करना या पुद्गल का करना या राग के फल को भोगना, वह उसका स्वरूप नहीं। आहाहा!

आहाहा! उसरूप परिणमित नहीं होता, ग्रहण नहीं करता, उत्पन्न नहीं होता। किसे? यह हर्ष-शोक के परिणाम को धर्मी जीव ग्रहण नहीं करता, वह उसका प्राप्य नहीं, वह पुद्गल का प्राप्य ध्रुव है। आहाहा! उसका प्राप्य तो उस समय उन हर्ष-शोक के परिणाम को जानना, वे जानने के परिणाम उस-उस समय के ध्रुव, प्राप्य है। आहाहा!

इसमें कहाँ लन्दन-बन्दन में मिले ऐसा है, ऐसा कुछ, अफ्रीका में? अफ्रीका में तो अब पच्चीस-तीस वर्ष से यह अभ्यास है। नैरोबी, नैरोबी पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाते हैं। ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारह को मुहूर्त किया वहाँ नैरोबी में, दो हजार वर्ष में कोई दिगम्बर मन्दिर नहीं, वहाँ जैन दिगम्बर (मन्दिर) दो हजार वर्ष में अभी बनाते हैं, शुरु कर दिया है। श्वेताम्बर बहुत हैं, वहाँ पचास लाख का (मन्दिर) बनाते हैं। महाजन श्वेताम्बर बहुत हैं, वे पचास लाख का (मन्दिर) बनाते हैं, और यह मुमुक्षु हैं वे पन्द्रह लाख का (मन्दिर) बनाते हैं, तथापि आगे होगा वह।

परन्तु यह होने के काल में उन परमाणु की पर्याय होती है, आत्मा कर्ता है, इस बात में कुछ माल नहीं है। आत्मा अज्ञानभाव से राग को करे, परन्तु वह मन्दिर बनावे, इस बात में कुछ बात, एक भी प्रतिशत सत्य नहीं है। यहाँ तो अज्ञानभाव से कहा न, अज्ञानभाव से करे तो वह राग को करे परन्तु पर को तो वह अज्ञानभाव से भी नहीं करे और ज्ञानभाव से आत्मधर्म भावे तो वह राग का भी कर्ता आत्मा नहीं है। राग का ज्ञान हो, वह उसका व्याप्य और प्राप्य है। आहाहा! व्याप्य अर्थात् कार्य और वह उसका प्राप्य अर्थात् उस काल में होनेवाला था। पुंजाभाई! मुम्बई रहते हो तुम अभी मुम्बई, नैरोबी? अफ्रीका-अफ्रीका में रहते हैं, नैरोबी। आहाहा!

इसलिए यद्यपि ज्ञानी सुख-दुःखादिकरूप पुद्गलकर्म के फल को जानता है। आहाहा! 'स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी तातें (वचन) भेद भ्रम भारी, ज्ञेय शक्ति द्विविधा प्रकाशी, निजरूपा पररूपा भासी।' पर को जाने, स्व को जाने-ऐसा ज्ञान का ज्ञानी का स्वभाव है। आहाहा! धर्मी का यह स्वभाव है। अधर्मी चाहे जिस प्रकार माने, राग का कर्ता

हो, वह तो अज्ञानरूप से चाहे जो करे, माने, तथापि वह उसकी मान्यता सत्य नहीं है। इस प्रकार की बातें। अब कहीं सुनने में बाहर में तो मिलती नहीं, हिन्दुस्तान में मिलती नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें, बापू! तेरी बातें। आहाहा!

मुमुक्षु : उल्टी मान्यता निकालने के लिये तो यहाँ आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात सत्य है। आहाहा! ज्ञानी सुख-दुःख आदि पुद्गलकर्म का फल, भाषा (यह है)। यह सुख-दुःख की कल्पना का भाव वह कर्म का फल; जीव का नहीं। ज्ञानी की बात है न? यहाँ वस्तु द्रव्यस्वभाव चैतन्यस्वभाव का ज्ञान हुआ है, तो वह तो ज्ञानी है। वस्तु ज्ञायकस्वभाव का ज्ञान हुआ है, ज्ञायकस्वभाव त्रिकाली ज्ञायकभाव परमात्मा स्वयं भगवत्स्वरूप जिनस्वरूप प्रभु आत्मा अन्दर है। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसे अरु घट घट अन्तर जैन, मतमदिरा के पान सो, मतवाला समझे न।' आहाहा! बहुत कठिन बातें, भाई!

यह यहाँ कहते हैं। यद्यपि ज्ञानी सुख-दुःखादि रति, अरति, खेद, शोक इत्यादि इस पुद्गलकर्म के फल को जानता है। धर्मी जानने में स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से जानता है। समझ में आया? **तथापि...** जानता है तो भी, जानने का कार्य करता है तो भी, **प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्य परिणामस्वरूप कर्म...** आहाहा! यह सुख-दुःख के परिणाम, वह पुद्गल का प्राप्य है, उस समय ध्रुव वही होनेवाला, आहाहा! वह पुद्गल का प्राप्य है, वह पुद्गल इस प्रकार से परिणमित हुआ है, पुद्गल उसरूप उत्पन्न हुआ है। आहाहा! भारी कठिन काम। शरीर, वाणी, पैसा और स्त्री -पुत्र में तो कोई कर्ताकर्मपना अज्ञानी को भी है ही नहीं। अज्ञानी को कर्ताकर्मपना हो तो अन्दर में राग का कर्ता और राग उसका कार्य, अज्ञानी मानता है। आहाहा!

अब यहाँ धर्मी जीव, धर्म करनेवाला उसे कहते हैं कि जिसे सुख-दुःख के परिणाम हों, उसे वह जाने। जानने पर भी उन परद्रव्य के परिणाम को ग्रहण नहीं करता, है? वह व्याप्यलक्षण प्राप्य, विकार्य, निर्वृत्य ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला कार्य लक्षण, **परद्रव्य परिणाम स्वरूप कर्म...** अर्थात् कार्य **उसे वह नहीं करता ऐसा धर्मी उसे नहीं करता। (उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है।)** आहाहा!

यहाँ तो चौथे गुणस्थान से शुरु किया है। भाई! वह कहे, निर्विकल्प समाधि हो तब ज्ञानी कहना। अरे प्रभु! आहाहा! क्योंकि उसे सुख-दुःख के परिणाम हैं, उन्हें जानता है, ऐसा लिया है न? तथापि वह ज्ञानी है। अर्थात् निर्विकल्प समाधि में हो तो ही ज्ञानी है और सुख-दुःख के परिणाम हुए, उन्हें जाने, इसलिए ज्ञानी नहीं—ऐसा नहीं है। ज्ञानसागर में बहुत लिखा है। आहाहा!

ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। यह हर्ष-शोक के परिणाम पुद्गल हैं, उनका कार्य है, उसके साथ आत्मा को-धर्मी को कर्ताकर्मपना नहीं है। वह सुख-दुःख के परिणाम कर्ता और वह आत्मा का कार्य, यह ज्ञानी को-धर्मी को नहीं है, धर्मी उनका जाननेवाला है, वह जाननेवाले के परिणाम का व्याप्य है, वह उसका कार्य है और वह उसका कर्ता है। आहाहा!

भावार्थ - जैसा की ७७वीं गाथा में कहा गया था, तद्नुसार यहाँ भी जान लेना। 'वहाँ 'पुद्गलकर्म को जाननेवाला ज्ञानी' कहा था, और यहाँ उसके बदले में 'पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाला ज्ञानी' ऐसा कहा है। (इतना विशेष है)। लो, विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)